२१ पुण्य-पाप की अवधारणा

☐ श्री जशकरण डागा

पुण्य-पाप का अर्थ एवं व्याख्या :

जैन दर्शन में सामान्यतः "शुभः पुण्यस्य, अशुभः पापस्य।"[१] कहकर शुभ कर्म को पुण्य व अशुभ कर्म को पाप बताया है। पुण्य वह है जो आत्मा को पवित्र करे, जिससे सुख रूपी फल की प्राप्ति हो। इसके विपरीत पाप वह है जिससे आत्मा दूषित होती हो और दुःख रूप फल की प्राप्ति हो। पुण्य से आत्मा का उत्थान होता है और वह मोक्ष मार्ग में सहायक हेतु होता है जबकि पाप आत्मा का पतन करता है और मोक्ष मार्ग में बाधक बनता है। वह एकान्त हेय है। पुण्य से इच्छित, इष्ट व अनुकूल संयोग एवं सामग्री मिलती है जब कि पाप से प्रतिकूल व अनिष्ट संयोग एवं सामग्री की प्राप्ति होती है।

पुण्य की उपादेयता-हेयता :

आचार्य अमृतचन्द्र का कथन है कि पारमार्थिक दृष्टि से पुण्य-पाप दोनों में भेद नहीं किया जा सकता है। कारण दोनों ही अन्ततोगत्वा बन्धन हैं।[२] पं. जयचन्द्रजी ने भी ऐसा ही कथन किया है।

"पुण्य-पाप दोऊ करम बन्ध रूप दुह मानि।
शुद्ध आत्मा जिन लड्यो, नमु चरण हित जानि ।।[३]

पुण्य निश्चय दृष्टि से हेय है। इसकी पुष्टि सुश्रावक विनयचन्दजी ने भी निम्न प्रकार की है :—

"जीव, अजीव, बन्ध ये तीनों, ज्ञेय पदारथ जानो।
पुण्य-पाप आस्रव परिहरिये, हेय पदारथ मानो रे ।।
सुज्ञानी जीवा भजले रे, जिन इकवीसवां ।।४।।"[४]

१—तत्त्वार्थ सूत्र अ. ६, सू. ३-४।
२—प्रवचन सार टीका १/७२।
३—समयसार टीका पृ. २०७।
४—विनयचन्द चौबीसी।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से विचार करने पर पुण्य को एकान्त हेय नहीं माना जा सकता है। पण्य को 'सुशील' और पाप को 'कुशील' कहा है।[1] पुण्य आत्मा के लिए संसार-समुद्र तिरने में जहाज के समान उपयोगी है। जैसे समुद्र का तट आने पर जहाज यात्रियों को किनारे उतार देता है, वैसे ही पुण्य भी मोक्ष प्राप्ति के मार्ग में सहायक हो अंत में जब उसकी उपयोगिता नहीं रहती वह स्वतः आत्मा से अलग हो जाता है। पुण्य आत्मा का अंगरक्षक सेवक है जो मोक्ष प्राप्ति से पूर्व तक उसका स्वामिभक्त सेवक की तरह पूरा सहयोग करता है और अनुकूल साधन जुटाता है। जैसे मिट्टी पात्र पर लगे मैल को साफ कर स्वयं मैल के साथ ही पात्र से दूर हो जाती है, वैसे ही पुण्य पाप-कर्म का निराकरण कर स्वयं दूर हो जाता है। इसी कथन को संस्कृत में कहा है—

"मलं पात्रो पसंसृष्टम्, अपनीय यथा हि मृत्।
स्वयं विलयंतामाति, तथा पापापहं शुभम् ॥"[2]

पुण्य को साबुन की उपमा भी दी जा सकती है। जैसे साबुन वस्त्र के मैल के साथ स्वतः छूट जाता है वैसे ही पुण्य, आत्मा पर लगे पाप मैल को दूर कर स्वयं भी अलग हो जाता है। जिस तरह एरण्ड बीज या कस्ट्रायल आदि रेचक औषधि मल के रहने तक उदर में रहती है, मल निकलने पर वह भी निकल जाती है, उसी तरह पाप की समाप्ति के बाद पुण्य भी अपना फल देकर निश्चित रूप से बिना आगे कर्म-संतति को बढ़ाए आत्मा से विदा ले लेता है। इसीलिए व्यक्ति को पाप कर्म से बचना आवश्यक है। जब वह अशुभ कर्म से ऊपर उठ जाता है तो उसका शुभ कर्म भी (कषायाभाव में) शुद्ध कर्म बन जाता है। इसी कारण कषाय रहित जो कर्म प्रवृत्ति होती है उसे ईर्या पथिक (शुद्ध) कहा है।

पुण्य के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि पुण्य की सद्-क्रियाएँ जब अनासक्त भाव (कषाय रहित भाव) से की जाती हैं तो वे शुभ बन्ध का कारण न होकर कर्म क्षय (निर्जरा) का कारण बन जाती हैं। इसके विपरीत संवर निर्जरा के कारण संयम और तप की शुद्ध क्रियाएँ भी जब आसक्त भाव से फलाकांक्षा (निदान करके) से की जाती हैं तो वे कर्म क्षय का या निर्वाण का कारण न होकर कर्म बन्धक और संसार वर्धक बन जाती हैं। उनसे फिर भले ही पौद्गलिक सुख भोग प्राप्त हो जाय किन्तु वे द्रव्य से संवर-निर्जरा की क्रियाएँ होकर भी भाव से कर्म बन्धक हो जाती हैं। इसीलिए कहा है—"जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा।"[3] कर्म सिद्धान्त के

१—समयसार १४५-४६।
२—अमर भारती १/७८, पृ. ४।
३—आचारांग १/४/२।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुसार अशुभ से सीधे शुद्ध की प्राप्ति नहीं होती वरन् अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध की प्राप्ति होती है। इस दृष्टि से भी पुण्य शुद्ध की प्राप्ति में सहायक होने से शुद्ध की प्राप्ति न होने तक उपादेय मानना उचित एवं तर्कसंगत है।

क्या पुण्य-पाप स्वतंत्र तत्त्व हैं ?

'उत्तराध्ययन' सूत्र में नव तत्त्वों (पदार्थों) का वर्णन है, उसमें पुण्य व पाप को स्वतंत्र तत्त्व के रूप में प्ररूपित किया गया है।[1] किन्तु 'तत्त्वार्थ सूत्र' में उमास्वाति ने पुण्य-पाप को छोड़ जीव, अजीव, आस्रव, संवर, बन्ध और मोक्ष इन सातों को ही तत्त्व प्ररूपित किया है।[2] दिगम्बर जैन परम्परा में ये सात तत्त्व ही माने गए हैं। किन्तु यह मत भेद विशेष महत्त्व का नहीं है। कारण जो परम्परा पुण्य-पाप को स्वतंत्र तत्त्व नहीं मानती है, वह उन्हें आस्रव के अन्तर्गत स्वीकारती है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से चिंतन करें तो पुण्य-पाप मात्र आस्रव (आत्मा में कर्म आने का हेतु) ही नहीं वरन् उनका बन्ध भी होता है और विपाक (फल) भी होता है। अतः आस्रव के मात्र दो विभाग-अशुभास्रव और शुभास्रव करने से उद्देश्य पूरा नहीं होता वरन् फिर आस्रव के बन्ध और विपाक के भी दो भेद शुभाशुभ के करने होंगे। इस वर्गीकरण और भेदाभेद की कठिनाई से बचने हेतु पुण्य-पाप को आगमों में दो स्वतंत्र तत्त्व प्ररूपित करना युक्ति एवं तर्कसंगत लगता है। अतः पुण्य-पाप को स्वतंत्र तत्त्व ही मानना उचित है।

पुण्य-पाप बन्धन के कारण :

कर्म सिद्धान्त के अनुसार बन्धन का मूल कारण आस्रव है। आस्रव शब्द क्लेश या मल का बोधक है। आत्मा में क्लेश या मल ही कर्म वर्गणा के पुद्गलों को आत्मा के साथ जोड़ने में हेतु होता है। इसी कारण से जैन परम्परा में आस्रव का सामान्य अर्थ कर्म वर्गणाओं का आत्मा में आना माना है। यह आस्रव भी दो प्रकार का है—(i) **भावास्रव**—आत्मा में विकारी भावों का आना, (ii) **द्रव्यास्रव**—कर्म परमाणुओं का आत्मा में आना। दोनों परस्पर कार्य-कारण सम्बन्ध से जुड़े हैं। वैसे मन, वचन एवं काया की प्रवृतियाँ ही आस्रव हैं।[3] आस्रव का आगमन योग से तथा बन्ध मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय व प्रमाद से होता है। 'तत्त्वार्थ सूत्र' में आस्रव को दो प्रकार से इस प्रकार भी कहा है—

१—उत्तरा. सू. २८/१४।
२—तत्त्वार्थ सूत्र १/४।
३—तत्त्वार्थ सूत्र ६/१-२।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(i) **ईर्यापथिक**—कषाय रहित जिसमें मात्र योगों के स्पंदन से क्रिया आवे।

(ii) **साम्परायिक**—कषाय सहित जो क्रियाएँ की जावें, उससे आत्मा में आने वाला कर्मास्रव जो बन्ध रूप होता है।[1]

इस साम्परायिक आस्रव के कारण कुल अड़तीस हैं जो निम्न प्रकार हैं :—

(१–५) हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन व परिग्रह।

(६–९) चार कषाय (क्रोध, मान, माया व लोभ)।

(१०–१४) पाँच इन्द्रियों के विषयों का सेवन।

(१५–३८) चौबीस साम्परायिक क्रियाएँ (पच्चीस क्रियाओं में ईर्या पथिक को छोड़कर)।

पुण्य-पाप की सम्यग् अवधारणा हेतु कर्म प्रकृतियाँ, उनमें पुण्य व पाप प्रकृतियां कौन-कौन सी हैं ? तथा पुण्य व पाप प्रकृतियों के बन्ध कितने प्रकार से होते हैं ? यह भी जानना आवश्यक है। अतः संक्षेप में यहाँ इस पर भी प्रकाश डाला जाता है।

कर्म प्रकृतियाँ :

मूल आठ कर्म प्रकृतियाँ हैं जिनकी कुल १५८ प्रकृतियाँ हैं जो इस प्रकार हैं—

	कर्मनाम	अर्थ	प्रकृतियाँ
१.	**ज्ञानावरणीय**	—आत्मा की ज्ञान शक्ति को कुण्ठित करता है। जैसे सूर्य को मेघाच्छादित करता है।	५
२.	**दर्शनावरणीय**	—आत्मा की देखने व अनुभव करने की शक्ति को जो कुण्ठित करता है। जैसे राजा के दर्शन में द्वारपाल बाधक होता है।	९
३.	**वेदनीय**	—आत्मा की अव्याबाध सुख शान्ति को बाधित करता है। और लौकिक सुख-दुःख का संवेदन कराता है। जैसे शहद लगी या अफीम लगी तलवार को चखने से जिह्वा मीठे-कड़वे का आस्वादन करते स्वयं घायल हो जाती है।	२

२—तत्त्वार्थ सूत्र ६/३-५।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

४.	**मोहनीय**	—आत्मा की यथार्थ दृष्टि एवं सम्यग् आचरण (स्व स्वभाव प्रवर्तन) की शक्ति को कुण्ठित करता है। जैसे मदिरा सेवन व्यक्ति को बे भान कर देता है।	२८
५.	**आयुष्य**	—आत्मा की अमरत्व शक्ति को कुण्ठित कर योनि एवं आयुष्य का निर्धारण करता है। जैसे कैदी और जेल का दृष्टान्त।	४
६.	**नाम**	—आत्मा की अमूर्तित्व शक्ति को कुण्ठित करता है। यह व्यक्तित्व (शरीर रचना सुन्दर-असुन्दर) का निर्माण करता है। जैसे चित्रकार का दृष्टान्त।	१०३
७.	**गोत्र**	—आत्मा की अगुरुलघु शक्ति को कुण्ठित करता है। यह प्राणी को ऊँचा-नीचा बनाता है। जाति, कुल, वंश आदि की अपेक्षा से। जैसे कुम्भकार विभिन्न प्रकार के कुम्भ बनाता है।	२
८.	**अंतराय**	—आत्मा की अनन्त शक्ति को कुण्ठित करता है। यह उपलब्धि में बाधक बनता है। जैसे अधिकारी द्वारा भुगतान का आदेश देने पर भी रोकड़िया भुगतान में रोक लगा देता है।	५
		कुल प्रकृतियाँ	१५८

इस प्रकार आठ कर्मों की कुल १५८ अवान्तर प्रकृतियाँ हैं। इनमें पुण्य एवं पाप की प्रकृतियों का विवरण नीचे दिया जाता है—

पुण्य प्रकृतियाँ—(१) **वेदनीय** की १ (साता वेदनीय), (२) **आयुष्य** ३ (नरकायु छोड़), (३) **नाम** ३७ [गति २ (देव, मनुष्य), पंचेन्द्रिय १, शरीर ५, अंगोपांग ३, वज्र ऋषभ संहनन १, सम चतुरस्र संस्थान १, शुभ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श ४, आनुपूर्वी २ (देव, मनुष्य), अगुरु लघु १, पराघात १, उश्वास १, आताप १, उद्योत १, शुभ विहायोगति १, निर्माण १, तीर्थंकर १, त्रसदशक १०] (४) **गोत्र** १ (ऊँच)। इस प्रकार कुल ४२ पुण्य प्रकृतियाँ (पुण्य भोगने की) मानी गई हैं।[1] किन्तु 'तत्त्वार्थ सूत्र' के अनुसार उक्त प्रकृतियों के अलावा कुछ मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ भी पुण्य प्रकृतियों में ली गई हैं। वे इस प्रकार हैं—

१—नव तत्त्व से।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

'सद्वेद्य सम्यक्त्व हास्यरति पुरुष वेद शुभायुर्नाम गोत्राणि पुण्यम्'[1] अर्थात् साता वेदनीय, समकित मोहनीय, हास्य, रति, पुरुष वेद, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये पुण्य प्रकृतियाँ हैं, अन्य सब पाप प्रकृतियाँ हैं।

पुण्य प्रकृतियाँ बन्धने के हेतु :

पुण्य प्रकृतियाँ नव प्रकार से बन्धती हैं, यथा—(१) अन्न पुण्य–अन्न दान करने से, (२) पान पुण्य–पानी या पीने की वस्तु देने से, (३) वत्थ पुण्य–वस्त्र देने से, (४) लयन पुण्य–स्थान देने से, (५) शयन पुण्य–बिछाने के साधन देने से, (६) मन पुण्य–मन से शुभ भावना करने से, (७) बचन पुण्य–शुभ बचन बोलने से, (८) काया पुण्य–शरीर से शुभ कार्य करने से तथा (९) नमस्कार पुण्य–बड़ों व योग्य पात्रों को नमस्कर करने से।

पाप प्रकृतियाँ :

कुल ८२ प्रकृतियाँ पाप भोगने की हैं, जो इस प्रकार हैं—[१] ज्ञानावरणीय ५ (समस्त), [२] दर्शनावरणीय ९ (समस्त), [३] वेदनीय १ (असाता), [४] मोहनीय २६ (समकित व मिश्र मोहनीय को छोड़), [५] आयुष्य १ (नरकायु), [६] नाम ३४ (५ संहनन + ५ संस्थान + १० स्थावर दशक + २ नरक द्विक + २ तिर्यंच द्विक + ४ चार इन्द्रिय (एकेन्द्रिय से चतुरेन्द्रिय) + ४ अशुभ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श + १ उपघात + १ अशुभ विहायोगति), [७] गोत्र १ (नीच गोत्र), [८] अन्तराय ५ (समस्त)।

इस प्रकार ये ८२ प्रकृतियाँ पाप वेदन करने की मानी गई हैं।[2] पुण्य की ४२ और पाप की ८२ दोनों मिलाकर १२४ प्रकृतियाँ होती हैं। शेष ३६ प्रकृतियाँ रहती हैं। इनमें २ प्रकृति मोहनीय की (समकित मोहनीय व मिश्र मोहनीय) व ३२ प्रकृतियाँ नाम कर्म की (बन्धन नाम १५, ५ शरीर संघात, ३ वर्ण, ३ रस, ६ स्पर्श) सम्मिलित नहीं की गई हैं। दर्शन मोहनीय त्रिक (समकित, मिश्र व मिथ्यात्व मोहनीय) का बन्ध एक होने से दर्शन मोह की दो प्रकृतियाँ छोड़ दी गई हैं तथा नाम कर्म की शेष ३२ प्रकृतियाँ शुभाशुभ छोड़कर मानी गई हैं जिससे इन्हें पुण्य-पाप प्रकृतियों में नहीं लिया गया है।

पुण्य-पाप प्रकृतियों पर चिंतन करने से स्पष्ट होता है कि तिर्यंच आयु को पुण्य प्रकृति में लिया है जबकि तिर्यंच गति व तिर्यंचानुपूर्वी को पाप प्रकृतियों में। ऐसा क्यों ? इसका कारण यह प्रतीत होता है कि तिर्यंच भी मृत्यु नहीं चाहते। विष्ठा का कीड़ा भी मरना नहीं चाहता। इस अपेक्षा तिर्यंचायु को पुण्य प्रकृति माना गया है। शेष ज्ञानी कहें, वही प्रमाण है।

१—तत्त्वार्थ सूत्र ८-२६।

२—नव तत्त्व से।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

पाप प्रकृति बान्धने के हेतु :

पाप प्रकृतियाँ १८ प्रकार से बन्धती हैं। इन्हें अठारह पाप भी कहते हैं जो इस प्रकार हैं—(१) प्राणातिपात, (२) मृषावाद, (३) अदत्तादान, (४) मैथुन, (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) अभ्यास्थान, (झूठा कलंक लगाना), (१४) पैशुन्य (चुगली), (१५) पर परिवाद, (१६) रति-अरति, (१७) माया-मृषावाद, (१८) मिथ्या दर्शन शल्य।

पुण्य-पाप के कुछ विशिष्ट कर्मबंध व उनके फल :

यह भलीभाँति समझने हेतु कि पुण्य-पाप के विविध कर्मों के कैसे परिणाम होते हैं, यहाँ कुछ विशिष्ट उदाहरण जो ग्रंथों में मिलते हैं, दिये जाते हैं।

(अ) शुभ (सुखदायक) कर्म व उनके फल :

(i) परोपकार या गुप्त दान से अनायास लक्ष्मी मिलती है।

(ii) सुविधा दान से मेधावी होता है।

(iii) रोगी, वृद्ध, ग्लान आदि की सेवा से शरीर निरोगी व स्वस्थ मिलता है।

(iv) देव, गुरु, धर्म की विशिष्ट भक्ति से तीर्थंकर गोत्र का बन्ध होता है।

(v) जीव दया से सुख-सामग्री मिलती है।

(vi) वीतराग संयम से मोक्ष मिलता है जबकि सराग संयम देव गति का कारण होता है।

(ब) अशुभ (दुःखदायक) कर्म व उनके फल :

(i) हरे वृक्षों के काटने-कटाने से व पशुओं के वध से संतान नहीं होती है।

(ii) गर्भ गलाने से या गिराने से बांझपना प्राप्त होता है।

(iii) कंद मूल या कच्चे फलों को तोड़े या तुड़ावे तथा उनमें खुशी मनाते खावे तो गर्भ में ही मृत्यु को प्राप्त होता है या अल्पायुष्य वाला होता है।

(iv) मधु मक्खियों के छाते जलाने या तुड़ाने से या देव, गुरु की निन्दा से प्राणी अंधे, बहरे व गूंगे होते हैं।

(v) पर स्त्री पुरुष सेवन से पेट में पथरी जमती है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(vi) पति को सताकर सती का ढोंग करने से बाल विधवा होती है।

(vii) नियम लेकर भंग करने से लघु वय में स्त्री/पति का वियोग होता है।

(viii) किसी की संतान का वियोग करने से लघुवय में माता-पिता मर जाते हैं।

(ix) दम्पती में झगड़ा कराने से पति/पत्नी में प्रेम नहीं होता है।

पुण्य-पाप के चार रूप :

पुण्य-पाप के स्वरूप को भलीभाँति समझने हेतु इनके चार रूपों को भी समझना आवश्यक है, जो इस प्रकार हैं—

(१) **पुण्यानुबंधी पुण्य**—वह दशा जिसमें पुण्य का उदय हो और साथ ही प्रवृत्ति भी उत्तम हो जिससे ऐसे पुण्य का अर्जन भी होता रहे कि जो समुज्ज्वल भविष्य का कारण बने।[१] इस प्रकार के जीव वर्तमान में सुखी रहते हैं और भविष्य में भी सुखी होते हैं। यह जीव को शुभ से शुभतर की ओर ले जाता है।[२] यह ज्ञान सहित और निदान रहित, धर्म का आचरण करने से अर्जित होता है। अर्थात् शुद्ध रीति से श्रावक या साधु धर्म के पालन से पुण्यानुबंधी पुण्य का अर्जन होता है। इसका महानतम् फल तीर्थंकरत्व है तथा उससे उतरता फल मोक्ष पाने वाले चक्रवर्ती रूप होता है। श्री हरिभद्र सूरि ने लिखा है—जिसके प्रभाव से शाश्वत सुख और मोक्ष रूप समस्त सम्पदा की प्राप्ति हो ऐसे पुण्यानुबंधी पुण्य का मनुष्यों को सभी प्रकार से सेवन करना चाहिए अर्थात् श्रावक और साधु के धर्म का विशेष रूप से पालन करना चाहिए।

(२) **पापानुबंधी पुण्य**—जो पूर्व पुण्य का सुख रूप फल पाते हुए वर्तमान में पाप का अनुबंध कर रहे हैं, वे इस भेद में आते हैं। ऐसे प्राणी पाप करते हुए भी पूर्व पुण्योदय से सुखी व समृद्ध होते हैं जिससे सामान्य प्राणियों को संदेह होता है कि पाप करके भी सुखी रहते हैं तो फिर धर्म करना व्यर्थ है। किन्तु वे नहीं जानते कि वर्तमान में जो सुख मिल रहा है वह पूर्व के पुण्य का फल है। जब वह समाप्त होता है तो ऐसे प्राणियों की दुर्गति निश्चित होती है। हिटलर, मुसोलिनी इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। आगमों में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का उदाहरण आता है जो चक्रवर्ती होकर भी पाप का संचय कर नरक में गया। इस प्रकार जो पुण्य वर्तमान में सुख रूप फल देकर भी भविष्य को दुष्प्रवृत्ति से अंधकारमय

१—मोक्षमार्ग पृ. ५७४।

२—श्री हरिभद्र सूरि कृत अष्टक प्रकरण के २४वें अष्टक में।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

बनावे, दुर्गति में ले जावे, जीव को पतनोन्मुख करे, उसे पापानुबंधी पुण्य कहते हैं।

(३) **पुण्यानुबंधी पाप**—पूर्व भव में किए पाप रूप अशुभ कर्मों का फल पाते हुए भी जो शुभ प्रवृत्ति से पुण्य बंध करावे, उसे पुण्यानुबन्धी पाप कहते हैं। इस भेद में चण्डकौशिक सर्प का उदाहरण प्रसिद्ध है। पाप का उदय होते हुए भी भगवान् महावीर के निमित्त से उसने शुभ भावों में प्रवृत्ति कर शुभ का बंध कर लिया। पाप स्थिति में रहकर भी पुण्य का अर्जन कर लेना, भविष्य को समुज्ज्वल बना लेना, इस भेद का लक्ष्य है। नंदन मणियार का जीव मेंढ़क भी इसी भेद में आता है जो तिर्यंच भव में श्रावक धर्म की साधना कर देवगति का अधिकारी बना और अंत में मोक्ष प्राप्त करेगा।

(४) **पापानुबंधी पाप**—पूर्व भव के पाप से जो यहाँ भी दुःखी रहते हैं और आगे भी दुःख (पाप कर्म) का संचय करते हैं। कुत्ता, बिल्ली, सिंहादि हिंसक व क्रूर प्राणी इसी भेद में आते हैं। तंदुल मत्स्य इसका उदाहरण है जो थोड़े से जीवन में ही सातवीं नारक का बंध कर लेता है। कसाई आदि भी इसी भेद में समाहित होते हैं।

उपर्युक्त प्रकार से पुण्य-पाप बंध के चार प्रकार माने गए हैं। इनमें पुण्यानुबंधी पुण्य साधक के लिए सर्वोत्तम एवं उपादेय है। पापानुबंधी पाप एवं पापानुबंधी पुण्य दोनों हेय हैं। पुण्यानुबंधी पाप शुभ भविष्य का निर्माता होने से वह भी साधक के लिए हितकारी है। जब तक समस्त कर्म क्षय नहीं होते सभी जीवों को इन चार भेदों में से किसी न किसी भेद में रहना ही होता है।

तत्त्व दृष्टि से पुण्य-पाप की अवधारणा :

तत्त्व दृष्टि से विचार करें तो पुण्य-पाप दोनों ही पुद्गल की दशाएँ हैं जो अस्थायी, परिवर्तनशील एवं अंत में आत्मा से विलग होने वाली होती हैं। कहा भी है—

"पुण्य-पाप फल पाय, हरख-बिलखो मत भाय।
यह पुद्गल पर्याय, उपज, नासत फिर थाय।।"[१]

अतः पुण्योदय में हर्षित होना व पापोदय में विलाप करना दोनों ही ज्ञानियों की दृष्टि में उचित नहीं है। पुण्य-पाप बंध का मुख्य आधार भाव है। कषायों की मंदता में पुण्य प्रकृतियों का और तीव्र कषायों में पाप प्रकृतियों का बंध होता है। शुभ अध्यवसायों में कषाय मंद रहती है। मंद कषाय में यदि योग प्रवृत्ति भी मंदतम रहे तो जघन्य कोटि का शुभ बंध होता है और तीव्र, तीव्रतर

१—छहढाला।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

और तीव्रतम रहे तो रस एवं योग की तीव्रता में पुण्य-बंध भी मध्यम और उत्कृष्ट श्रेणी का होता है। जैसे ज्ञान सहित देव गुरु के प्रति भक्ति भाव की तन्मयता भी तीर्थंकर गोत्र बंधने का एक कारण है। ऐसे समय कषायों की मंदता किन्तु योगों की तीव्रतम प्रवृत्ति होती है जिससे शुभ का उत्कृष्ट बंध हो जाता है।

एकेन्द्रिय जीवों के केवल काय-योग ही है और वह भी जघन्य प्रकार का। उनमें शुभाशुभ अध्यवसाय भी मंद होते हैं कारण बिना मन के विशेष तीव्र अध्यवसाय नहीं हो सकते। इस कारण वे न तो इतना पुण्य अर्जन कर सकते हैं कि मरकर देव हो सकें और न इतना पाप अर्जन कर सकते हैं कि मरकर नरक में चले जावें। वे साधारणतया अपनी काया या जाति के योग्य ही शुभाशुभ कर्म बंध करते हैं। यदि अध्यवसायों की शुद्धि हुई तो विकलेन्द्रिय या पंचेन्द्रिय हो जाते हैं। विकलेन्द्रिय भी मन के अभाव में अधिक आगे नहीं बढ़ सकते।

पुण्य-पाप में भी भाव प्रधान है। भावों के परिवर्तन से पुण्य क्रिया से पाप और पाप क्रिया से भी पुण्य का बंध संभव है। कभी-कभी शुभ भाव से किया कृत्य भी विवेक के अभाव में अशुभ परिणाम वाला हो सकता है। जैसे देवी देवता की मूर्ति के आगे पूजा-हवन एवं बलिदान में बकरा, पाड़ा आदि प्राणियों का वध देव पूजा की शुभ भावना से किया जाता है। वध करने वालों का उन बलि किए जाने वाले प्राणियों के प्रति कोई द्वेष भाव भी नहीं होता। वे अपना धर्म मानते हुए प्रसन्नता से बलि करते हैं। फिर भी मिथ्यात्व, हृदय की कठोरता, निर्दयता एवं विवेक हीनता के चलते उन्हें प्रायः अशुभ कर्म बंधते हैं। उनके तथाकथित शुभ विचारों का फल अत्यल्प होने से उसका कोई महत्त्व नहीं।

विवेकपूर्वक शुभभावों से दान देने से पुण्य बंध होता है। भले ही दी हुई वस्तु का दुरुपयोग हो तो भी पाप बंध की संभावना नहीं रहती है। इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त मननीय है।

एक सेठ ने एक बाबा जोगी को भोजन की याचना करने पर सेके हुए चने दिए। उस बाबा ने उन चनों को तालाब में डालकर मछलियाँ पकड़ीं और पकाकर खा गया। सामान्यतः कथाकार कहते हैं कि इसका पाप चने देने वाले सेठ को भी लगा। किन्तु कर्म सिद्धान्त इसे नहीं मानता। सेठ ने उस संन्यासी को भूखा जानकर उसके द्वारा याचना करने पर खाने हेतु चने दिए। वह भिखारियों को चने देता था। उसका उद्देश्य भूखों की क्षुधा शान्त कर उन्हें सुखी करना था। उसे यह आशंका ही नयी थी कि एक संन्यासी होकर इतना

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

क्षुद्र होगा और दिए चनों से मछलियाँ मारेगा। अतः वह इस पाप का भागीदार नहीं हो सकता। दाता के भावों में और क्रिया में इस पाप की आंशिक कल्पना तक भी नहीं थी। अतः वह सेठ सर्वथा निर्दोष है। जब माचिस विक्रेता से कोई माचिस खरीद कर घर जलावे तो वह विक्रेता उसके लिए अपराधी नहीं माना जाता, तब शुभ भाव से विवेकपूर्वक दिए हुए अनुकम्पा दान के दुरुपयोग का पाप दानदाता को किस प्रकार लग सकता है ?

एक प्रबुद्ध वर्ग यह भी कथन करता है कि जिस तरह पाप से भौतिक हानि होती है वैसे ही पुण्य से भौतिक लाभ ही होता है, आत्मिक लाभ तो कुछ नहीं होता फिर पुण्य कर्म क्यों किए जावें ? इसका उत्तर यह है कि वस्तुतः पुण्य से आत्मिक लाभ कुछ नहीं होता हो, ऐसा एकान्त नियम नहीं है। वस्तुतः पुण्य से जहाँ भौतिक लाभ होते हैं वहाँ आत्मिक लाभ भी। जैसे मनुष्य जन्म, आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल, धर्म श्रवण, धर्म प्राप्ति आदि सब पुण्य से ही होते हैं। बिना मनुष्य भव के जीव धर्म साधना ही नहीं कर सकता। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियादि दशाओं में तो जीव धर्म का स्वरूप ही नहीं समझ सकता। जीव को पुण्य के निमित्त से उत्तम साधन मिलने पर ही वह धर्म साधना में गति करता है। माता मरुदेवी, संयती राजर्षि, परदेशी राजा, भृगुपुत्र आदि मिथ्यात्वी थे। उन्हें पुण्य के फलस्वरूप ही धर्म के उत्तम निमित्त मिले और वे धर्मात्मा बने। अनादि मिथ्यादृष्टि को जब प्रथम बार सम्यक्त्व लाभ होता है तब उसे उपशम भाव के साथ पुण्योदय की अनुकूलता रहना आवश्यक होती है, इसी निमित्त से उसके दर्शन मोहनीय का पर्दा हटता है। पुण्य क्रिया के साथ यदि वासना का विष न हो, तो उससे आत्मिक लाभ होता है और पुण्यानुबंधी पुण्य तो नियमतः आत्मिक लाभ पूर्वक होता है।

अन्त में सभी आत्मार्थियों से निवेदन है कि पुण्य-पाप का यथार्थ स्वरूप जैसा सर्वज्ञ वीतराग भगवंतों ने प्ररूपित किया है, उस पर कर्म सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में जानकारी के अनुसार यद्किंचित् प्रकाश डालने का इस लेख में प्रयास किया है। इसमें कुछ अन्यथा लिखने में आया हो तो कृपा कर सूचित करावें जिससे भूल सुधार हो सके।

कर्म सिद्धान्त के अनुसार पुण्य-पाप की अवधारणाओं को उनकी हेय, ज्ञेय एवं उपादेयता की वस्तुस्थितियों को ध्यान में लाकर उनसे हम अपने जीवन और समाज को लाभान्वित करें। अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध की ओर अग्रसर होवें, बस यही हार्दिक सद्भावना है।

• □ •

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org